केशिका

कैशिका

(कविता-संग्रह)

प्रेमानन्द चन्दोला

बिनसर प्रकाशन
बिनसर प्रिन्टर्स
डी ६६, बाबा गंगनाथ मार्किट,
मुनीरका, नई दिल्ली-११००६७

मूल्य : ४०-०० रुपये
प्रथम संस्करण : सन् १९९१
प्रकाशक : बिनसर प्रकाशन
मुद्रक : बिनसर प्रिन्टर्स
आवरण पृष्ठ : आलोक वाही

KESHIKA : A Collection of Poems
By PREMA NAND CHANDOLA

पारिवारिक चतुर्भुज

के

अन्य तीन बिन्दुओं

सिद्धेश्वरी, सोमेन और शुभेन

को

कविता की बात

कविता के परिप्रक्ष्य में हम सामान्य कविता की बात कर रहे हैं यानी सर्वनिष्ठ कविता की, सार्वभौम कविता की। यूं तो कविता को अनेक बार अनेकों के द्वारा परिभाषित और रूपायित किया जा चुका है परन्तु पाडित्य और सूक्ष्मता से बचकर विद्वानों ने कविता की सामान्य परिभाषा इस प्रकार की है—"वह साहित्यिक विधा, जिसमें सशक्त शब्दो और शैली मे उदात्त अथवा स्पृहणीय भाव व विचार उजागर होते है।"

रामचरितमानस में भी कहा गया है कि—"कीरति-भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई।"

उदात्त भावना वाला तत्व ही कविता को मर्यादा और शाश्वतता प्रदान करता है। युगानुसार चूँकि मापदड बदलते हैं इसलिये उसे निश्चित साँचे में नही ढाला जा सकता। मानदंडों में कालानुकूल परिवर्तन होते हैं अनुभूतियो और सवेदनाओं की अनुक्रियास्वरूप। कविता मे निहित हित-कारक तत्व ही कविता को श्रेय से मडित करता है। कविता में सार की बात को गिने-चुने थोड़े से शब्दो में कह दिया जाता है। कविता भले ही किसी भी छद में हो—मात्रायुक्त अथवा मात्राहीन शैली मे—असली मुद्दा है भाव का उजागर होना।

आज का युग विज्ञान व प्रौद्योगिकी की यांत्रिकता का युग है। विज्ञान युग की प्रत्यक्ष कविता की विशेषता है कि वह विषय सापेक्ष तथ्यों का प्रति-पादन भी करती है और व्यक्ति सापेक्ष विचारों का भी। विज्ञान द्वारा सं-ल्पना विशेष का स्थिरीकरण होता है तो भाषा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति। विज्ञान प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में युग और काल के प्रवाह, परिवर्तन और प्रगति का महत्वपूर्ण कारक है। इस प्रकार कविता में जीवन, समाज और परिवेश के अनुसार परिवर्तन, परिघटनायें, संकल्पनायें, विचार आदि परि-लक्षित होंगे ही।

भावों और विचारों की सम्प्रेषणीयता की वाहिका भाषा है और भाषा की इकाई है शब्द। भाषा के अर्थबोधक अंशों की रचना शब्दों से ही होती है। अतः अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम इकाई शब्द है और शब्दों के विविध क्रमचय और संयोजन से ही कविता का ताना-बाना बुना जाता है। यह शब्दपुंज ही कविता की सरल अथवा जटिल, श्लील अथवा अश्लील,

सुबोध अथवा दुर्बोध शब्दावली का इन्द्रधनुष होता है, जिससे भाव परावर्तित होते है। सामान्य पाठक के लिए कविता की यह शब्दाबली यदि सहज और सुबोध रहेगी तो कविता कठिन काव्य का प्रेत नही बनेगी।

जीवन, रहन-सहन और फैशन में यानी हर क्षेत्र में बदलाव आया है तो कविता मे भी यदि बदलाव आया है तो इसमें अस्वाभाविकता क्या है ? आज भवननिर्माण और वास्तुकला में भी पुरानी पच्चीकारी, मीनाकारी और कलात्मकता की बारीकी के बदले सादा व ठोस 'आर्किटेक्चर' देखने को मिलता है तो कविता में भी यदि यह सादगी, सहजता और ठोसपन समाविष्ट हो गया है तो आक्रोश क्यो ? भोजन के बावन व्यंजन छत्तीस प्रकार और श्रृंगार के सोलह प्रकार है तो कविता के भी कई रूप हो जाएं तो आकृतिक क्या है ? यह तो हर्ष का विषय है कि कविता कामिनी नए-नए फैशन, नए-नए रूप और नए-नए रूप और नए-नए तेवरों की विविधता लिए चल रही है।

आज आदमी यन्त्रचालित हो गया है, यान्त्रिकता उस पर हावी हो गई है। अतः कविता जीवन की समग्रता मे यथार्थ के क्षेत्र से अछूती कैसे रह सकती थी। उसका इससे गुजरना अनिवार्य बन जाता है। भले ही यथार्थ कहीं-कहीं फंतासी से भी जुड़ जाता है। विज्ञान की यथार्थपरक दिशा मे कविता एक सामाजिक-सांस्कृतिक क्रिया बन जाती है, जो उसकी प्राकृतिकता है। समय की ताल पर साहित्य भी करवट बदलता है और उसी हिसाब से उसे मानसिक पोषण तथा आधार मिलता है। तभी तो परिस्थितियों के अनुसार कविता साहित्य के नए प्रभाव और मानसिक मन्थन के नए उत्पाद के रूप में प्रकट होती है।

आज भौतिकता और व्यस्तता के युग में एक बडा महत्वपूर्ण कारक है समयाभाव। हरएक आदमी अपने हाथ आए थोड़े से समय का सदुपयोग करना चाहता है और अपनी इच्छा के अनुकूल चुनीन्दा चीजों को ही पढ़ना चाहता है। बीच की अवधि में कविता की भाषा और भाव के अटपटेपन के कारण जब कविता लोगों के पल्ले नहीं पड़ी तो अरुचि होने के कारण सामान्य लोगों को कविता नाम की चीज से विराग ही हो गया, और लम्बी कविता से तो लोग एकदम दूर भागने लगे। 'कवि लिखे और बाँचे खुदा' वाली बात कविता पर चरितार्थ होने लगी। कवि की बात को केवल कवि ही जाने और सामान्य जनता न

समझे तो कविता का प्रयोजन कहाँ सिद्ध होता है। सूक्ष्म और गूढ़ता वाले तत्त्व के कारण कविता असल में जन-जीवन से दूर होकर कटती चली गयी। सामान्य पाठक के पास कहाँ समय है कि वह कविता की क्लिष्ट और दुर्बोध शब्दावली को शब्दकोषों में टटोलता फिरे। न किसी के पास इतना समय है कि वह अर्थबोध के लिए दूसरों को पूछता फिरे और न ही इतना सब्र है कि वह समझने के लिए माथापच्ची करता रहे। कविता का जन-मानस से दूर होने का एक कारण उसके माधुर्य और लोकतत्त्व का लोप होना भी है। फिर हर कविता पाठ्य पुस्तकीय मद भी तो नहीं होती।

इसीलिए आधुनिक हिन्दी कविता ने कई मोड़ लिए है, और कविता को नए मोडो तक पहुंचाने और उबारने में नए कवियों का योग रहा है। कवियों ने सहज भाषा में रूपकों, प्रतीकों, बिम्बो और मिथकों आदि को नए रूपों मे प्रस्तुत किया। उनकी यह प्रवृत्ति 'स्वच्छंदवादी और स्वच्छंदवादी' रही है क्योकि परम्परा और रूढियो के प्रति उनके स्पष्ट स्वर मुखरित रहे है।

बंधनों के प्रति कवि स्वच्छंद होता रहा है और यह स्वच्छंदता कलात्मकता के प्रति भी रही है। कवि की यह उन्मुक्तता मीटर या मात्रा आदि के बाँध तोडकर आगे बढ़ी। उद्देश्य था तो केवल भाव की सहज और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति। मात्राओं की गिनती तथा तराशी गई कृत्रिमता को नकारा गया और कम समय का अधिक उपयोग किया गया। ऐसी कविताओं को नयी कविता, समकालीन कविता, प्रति कविता, नवगीत, अकविता, सहज कविता आदि अनेक नामों से पुकारा गया, लेकिन वास्तव में ये अनेक धरातलों पर एक ही प्रवृत्ति के विभिन्न पर्याय रहे हैं।

यह बदली प्रवृत्ति विज्ञान और उसके प्रत्यक्ष प्रभाव की देन रही है। इस पर परमाणु-बम प्रकरण, औद्योगीकरण, पाश्चात्य गतिकता और भौतिकता आदि की छाप है। पाश्चात्य साहित्य से पौर्वात्य साहित्य भी अछूता न रहा। भारत के कवियों की संवेदनशीलता और जागरूकता ने भी अपनी भूमिका निभाई क्योंकि 'संवेदनाएं और भावनाएं' तो वायु की तरह पूरे विश्व के पर्यावरण में व्याप्त हो जाती हैं।

नई कविता भी नई न रहकर पुरानी पड़ी। कहते हैं कि वह १९५९ में ही समाप्त होगयी थी। सन् १९६५ में कविता कुछ नए रूप में प्रकट हुई जिसे 'अकविता' नाम दिया गया। यह सब आंशिक रूप मे

यहाँ की पारिस्थितिकी (एकोलौजी) तथा बदलाव के कारण हुआ, भले ही इससे अन्य अनेक कारण भी सम्बद्ध रहे हैं। पाश्चात्य देशों की तरह यह प्रवृत्ति चीज को ज्यों का त्यों रखने और दिखाने में विश्वास रखती हैं, जो कभी-कभी 'नग्नता' के निकट भी हो जाती है। इसमें नगरीय और महानगरीय सस्कृति ने बहुत योग दिया है जिसमें युवा पीढ़ी की कुँठा, संत्रास, संघर्ष, आक्रोश, हिंसा, अकुलाहट, भ्रष्टाचार, स्पष्टवादिता, उन्माद, प्रतिक्रिया सैक्स, उन्मुक्तता, भौतिकता, स्वार्थपरकता, याँत्रिकता आदि झलकते हे ।

कविता चाहे जनवादी हो चाहे अस्तित्ववादी पर उसे किसी एक कटघरे में बाँधकर रखना उचित नही। कविता तो निरन्तर बहने वाली एक धारा है, भावों का एक अखण्ड प्रवाह है। यह किसी भी वाद से अलग रहकर मानवीयता की लीक पर चलते हुए केवल एक वाद यानी 'कवितावाद' मे रहे तो बेहतर होगा, इष्ट होगा।

अकविता की ही मिसाल लेते हैं। अकविता का 'अ' उपसर्ग अनेक आयामों का द्योतक है। और इसे कविता से हटकर भी माना जाय तो यह उपन्यास, नाटक या कहानी तो नहीं है, वरन भावों व विचारों की वह वाहिका है जो एक भाव या विचार की संकल्पना को समय के अल्पाँश में उजागर कर देती है। यह विज्ञान-युग के नए अंदाज की कविता है, भले ही वह गद्य के निकट है। प्रयोजन तो इसका कविता वाला ही है। काल विशेष के अनुसार कवि क्रिया भिन्न होती है तो वह एक स्वाभाविक युग संगति है।

युग बोध, कालबोध और परिस्थिति बोध के परिणामस्वरूप कवि यदि नई राह का अन्वेषण करते हुए नया 'ट्रैक' अपनाता है और नई दिशा मे प्रवृत्त होता है तो इसमें असहजता और अस्वाभाविता क्या है ? उसका कवि कर्म नये तेवर से अभिव्यक्त होता है तो कुछ नया ही तो मिलेगा। आज विज्ञान और मनोविज्ञान के जटिल बहुआयामी और गुरुतर परिवेश में कविता क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे है तो यह सब स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार विज्ञान में भावुकता को स्थान नहीं उसी प्रकार विज्ञान युगीन कविता में प्रेक्षण, प्रयोग और सत्यापन के पश्चात ही साधारणी-करण वाले परिणामों को मान्यता दी जाती है। तभी युक्तिसंगतता और वस्तुनिष्ठता रहती है। बिना लाग लपेट के जस की तस वर्णना और अभिव्यक्ति कविता के सत्य के प्रयोगों के अंतर्गत है। अत: स्पष्ट है

कि विभिन्न मनःस्थितियाँ ही कविता प्रणयन के आधारभूत कारक है जो आते रहने और भोगे जाने वाले हर क्षण के परिप्रेक्ष्य में रूपायित होते जाते हैं ।

कविता की आवश्यकता सही मानवीय अर्थों में समाज के इष्ट के लिए ही होती है क्योंकि 'जेनुइन' कविता युग और धरती से जुड़ा सत्य है । यद्यपि कवि उन्मुक्त प्राणी है तो भी उसकी रचना के संतुलन के लिए उसमें मानव सापेक्ष और समय सापेक्ष जीवन मूल्यों का तालमेल अपेक्षित है । कविता में सत्य, मर्यादा और प्रकृति के प्रति आस्था की मानसिकता प्रवह-मान रहे तो श्रेयस्कर होगा । भ्रष्टता और विकृति से दूर रहना धनात्मक लक्षण होगा । संयम, मर्यादा और सात्विकता की त्रिवेणी भारतीयता का प्रधान मौलिक लक्षण रहा है ।

प्रेमानन्द चन्दोला

अपनी बात

'केशिका' कविता-सग्रह अलग-अलग भाव-भूमि से रिस कर आई बूंदो और धाराओं का संचय है। वक्तव्य देना बहुत आगे की स्थिति होती है, और मैं अपने को उस स्थिति में नहीं पाता हूं। वैसे भी आत्म समीक्षा वस्तुनिष्ठ कहाँ होती है? अतः बिना लाग लपेट के 'जो कुछ है जैसा है' वह सुधी पाठकों और समालोचकों के समक्ष प्रस्तुत है।

कुछ न कुछ कहने की मजबूरी में बस सार रूप में कहना चाहूंगा कि परिवेश के बहुआयामी प्रेक्षण के उद्दीपनस्वरूप कुलबुलाने पर उपजी मेरी मनोभूमि की ये कवितायें स्वछंद और स्वच्छंद शैली की रचनाए हैं। कुछ प्राकृतिक संकल्पनाओं वाली विज्ञान-कवितायें भी हैं। भावाभिव्यक्ति के प्रसंग में लघु और लम्बी कविता दोनों की अपनी-अपनी अस्मिता है। आज समयाभाव और व्यस्तता वाले युग मे मिनी कविताओं की भी महत्ता है क्योंकि मूल भाव के संप्रेषण और ग्रहण में ये कम समय जो लेती है।

विज्ञान और टेक्नोलौजी के भौतिकवादी युग में सभी का आए दिन का अनुभव होगा कि व्यक्ति मानवीय कारको की दृष्टि से रीता हो रहा है, भावनायें मर रही है और परिणामस्वरूप कविता भी। बेहिचक यह कटु युग सत्य है कि आज कविता गौण स्थिति पर हो गई है। 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' सूत्र के तहत साहित्य का सृजन आम पाठकों के लिए होता है तो कुछ के द्वारा ही क्यों, उसका बोध सभी के द्वारा एक ही धरातल पर सहज रूप में होना चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य में सकेत भर देना काफी होगा। हम सभी अपने गरेबान में झाँककर देखें कि आम पाठक के साथ कविता का जो रागात्मक सम्बन्ध था वह क्यों टूट रहा है? वे महत्वपूर्ण कड़ियाँ क्यों चरमरा रही हैं? इनको बनाए रखने की चेष्टा करना क्या सभी इकाइयों के लिए अभीष्ट नहीं?

इन कविताओं को दिन का उजाला दिखाने के लिए मैं भाई श्री स्वरूप ढौंडियाल का आभारी हूं।

'कोशिका'
ई-१, साकेत, एम. आई. जी. फ्लैट,
नई दिल्ली-११००१७

—प्रेमानन्द चन्दोला

जन्म : ३ जून, १९३६ को रावतगांव, चन्दौला राई, पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०) में।

शिक्षा : एम० एस-सी. (प्राणि०), एम. ए. (हिन्दी), एल. टी., साहित्यरत्न।

लेखन : एक हजार से अधिक लेख। 'कृषि-कीटविज्ञान परिचय', 'चीखती टपटप और खामोश आहट', 'बैक्टीरिया अदालत में', 'अनोखे जानवर', 'पंखो पर आसमान', 'कीट : कितने रंगीले, कितने निराले', 'पर्यावरण और जीव', 'बिन पानी सब सून', 'पर्यावरण : जीवों का आँगन', 'प्रदूषण : पृथ्वी का ग्रहण', 'केशिका' (कविता संग्रह) आदि।

'साहित्य : साधना और संघर्ष,' 'मध्य हिमालय में शिक्षा व शोध', 'आस्था के स्वर', 'किशोर भारती', 'भारती', 'भाषा सरिता', 'संभावना', 'सुबह की धूप', 'अद्यतन' तथा एन०सी० ई० आर० टी०, ओपेन स्कूल, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय और इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में पत्राचार पाठ्यक्रम की विज्ञान तथा भाषा पुस्तकों का सहयोगी लेखन। अनेक कोशों व पुस्तकों का सम्पादन तथा अनुवाद। रेडियो वार्ताकार।

पुरस्कार तथा सम्मान : विज्ञान वैचारिकी अकादमी इलाहाबाद द्वारा १९८१ में सम्मानित। 'पर्यावरण और जीव' पुस्तक पर हिन्दी अकादमी, दिल्ली का १९८४-८५ का श्रेष्ठ साहित्यिक कृति पुरस्कार। दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा विज्ञान परिषद, इलाहाबाद द्वारा १९८६ में सम्मानित। अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना के अन्तर्गत 'वन-उपवन और परिस्थितिविज्ञान' पर १९८६ का उत्तम लेखन पुरस्कार।

संप्रति : वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (भारत सरकार) में सेवारत। "विज्ञान गरिमा सिंधु" का सम्पादन।

: अनुक्रम :

जुगनुओं का संसार

मत देखो !
इस हीन दृष्टि से
इन क्षुद्र जुगनुओं को
न ही डराओ इस तरह
नियति के
इन चेतन लघु कणों को,
सूरज और चाँद के मानिंद
न बिखरा सकें
भले ही जगमग आलोक ये
पर क्या न हरते हैं
नन्हीं चिरैयों के तिमिर को ।

□

घर

कुंठा-उल्लास की गुल्लक का आवास
ईंट–गारे में बँधा आकाश । □

ग्रीष्म

अन्दर खेलें युगल ताश
बाहर फूलें अमलतास । □

जिंदगी

भौतिकता की पहेली
महंगाई की सहेली ।

□

विडम्बना

जो अपनी नज़रों में चढ़ता है
वो आगे कहां बढ़ता है ।

□

समय और हम

समय चलता है
और चलते हम भी हैं
लेकिन अपनी-अपनी चाल से
अपने-अपने स्वभाव से ।
समय तो शशक की कुलाचें मार
आगे बढ़ निकलता है
और हम कच्छपी चाल से
सांस भरते ही रह जाते हैं ।
कदम-से-कदम मिलाना तो दूर
उसकी ओट से दूर
कोसों दूर पीछे छूट जाते है
और हर घड़ी पिछड़ते ही जाते हैं,
…देखते-ही-देखते समय का खरगोश
चांद के पार पहुंच जाता है
और हम तब चांद पर जाने की
चेष्टाओं का श्रीगणेश करते हैं ।
किन्तु अब क्या ?
फिर तो झेंप सकते भी नहीं
क्योंकि हमारी आदत ऐसी हो गई है --
पराई घड़ियों के अलार्म पर
हम ध्यान देते नहीं
और अपनी घड़ी का अलार्म
हमें जगा पाता नहीं है ।

□

उत्परिवर्तन

हमारे आचार जाने कैसे–कैसे हो गये है
सारे विचार रुपये-पैसे हो गए हैं।

□

लाटरी

हल्ला-न-गुल्ला,
पिछले पुण्यों की गिल्ली पर
हौले से
किस्मत का एक बड़ा टुल्ला।

□
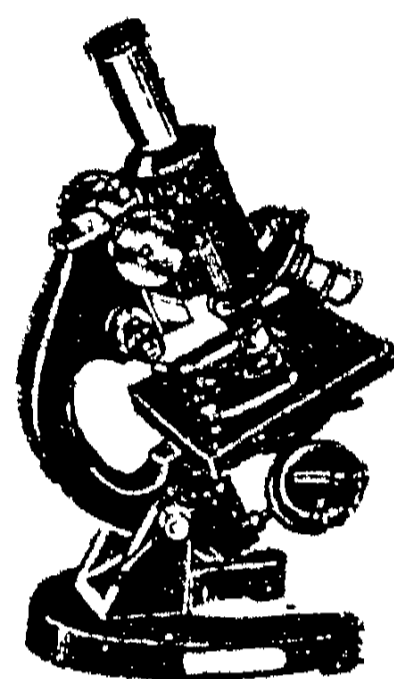
यन्त्र-तन्त्र

आए दिन और आए छिन
आशंकाओं की शंका से भरा मानव
यन्त्र-युग के वैभव से छटपटाकर
यातनाओं के तनावों में
तौलता है अटपटाकर
झूठे बनावों का खरा लाघव।

□

सापेक्षता

वक्त की बात है
क्षणों का दर्शन भी
क्या अनोखा प्रदर्शन है,
कभी रोने से
दुःखों का हल्कान होता है
तो कभी—
मुस्कान से भी नुकसान होता है।

□

समाज

गोल मेज पर सजी टाइमपीस
चमचमाती, झिलमिलाती या टिमटिमाती इकाइयाँ
बंधे दायरे की धुरी पर दौड़ती-सरकती सूइयां
टिक-टिक···टन-टन···क्रन-क्रन
घंटा मिनट · सेकेंड
अलार्म चाबी भरा दूसरों के लिए।

[ ]

जीवन

तांगे का टट्टू···
हड्डियों के उभार
कोड़ों के घाव
अदृश्य विषाणुओं के पड़ाव,
आँखा पर पट्टा
मुँह पर लगाम
गर्दन बदन पर साल व कसमसाती रस्सियाँ
और ऊपर से थुलथुल बोझ की हांक,
···चिलचिलाती दोपहर का धूप-पसीना चर कर
टूटती काया की अग्र रंध्र-गुहा में···
आधी रात को सूखे-दो तिनके ठूंस कर
निढाल हो चुभती एक खड़ी नींद।

□

क्यों ?

मन से मन का नाता है
और तन से तन बध जाता है
संक्रियाएं दोनों की
अलग-अलग हैं तो—
क्यों त्वचा की छुअन
ऋचा की सिहरन बन जाती है ?

मन तो तन में रम जाता है
और तन भी मन मे रग जाता है
दोनों में
एकलयता की बाधा होती है तो—
क्यों तन और मन की
उलझन बढ़ जाती है ?

मन का मिलना
और तन का खिलना
एक मंच पर
आवेगों-उन्मेषों का नर्त्तन है
तन-मन के रूप
अनेक नहीं तो—
क्यों जीवन की गुनगुन
कुनमुन बन जाती है ?

आंखों और अन्तर की सीमित इच्छाएं
समन्वित होकर बनती अनुक्रियाएं
अपने-अपने पोरों तक
आती हैं तो -
क्यों खुसपुस
औरों की बातें बन जाती हैं ?

गद्यों या पद्यों से आए
भाव वही मन को छू जाए
आखरों और शब्दों की अभिव्यक्ति
भावना ही है तो—
क्यों छन्दों-बन्धों में
अनबन ठन जाता है ? □

गंदला पानी

आए दिन जब मैं —
मरम दास को
'राम जी की जै' लिखे
'एक मोल चोखा तोल' की तख्ती लगाए
मिलावट करके
डंडी मारते देखता हूँ,
बने-ठने व ऐंठे तने हुए पोले ढोल के
ओछे स्वरों को गूंजते सुनता हूँ,
धर्म-कर्म, पाप-पुण्य के ठेकेदारों को
आड़ में मनमाने उल्टे-पुल्टे भाष्य कर
मानवता का गला घोंटते देखता हूँ,
ईमान की डुगडुगी पीटने वालों को
बीच चौराहे पर
कानी कौड़ी के भाव
ईमान को नीलाम करते देखता हूँ,
सच्चाई और ज्ञान की दुहाई देने वालों को
दम्भ और पाखण्ड के तप में
पाप-पक्षपात के सुनहरे पात्रों से
आचमन करते देखता हूँ,

एक ही गगन के चदोवे के नीचे
धरती माँ के अन्नजाये पूतों को
परस्पर ईर्ष्या-द्वेष में
कसमसाते देखता हूँ,
प्यार से भेंटने वाले हाथों को
मुट्ठियां ताने हुए
विनाश के अस्त्रों की धमकियां
और अशांति की आग उगलते देखता हूं,

और यही नहीं,
जब देखता हूँ—
भेड़ियों द्वारा मेमनों को उलाहने मिलते हुए,
तो ओह ! पैगम्बरों के उन्हीं शब्दों को
मन रो-रोकर दुहराने-तिहराने लगता है—
या प्रभु !
इन्हें क्षमा कर सद्बुद्धि दे
(शायद) इन्हें नहीं मालूम
कि ये क्या अनर्थ कर रहे हैं ?

□
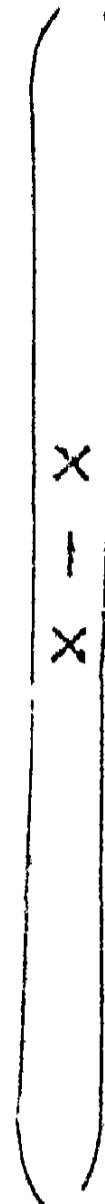
धनापेक्षी

छोड़ो यारो !
कोई और बात करो,
आदमी की अब क्या बात करें
क्या उस पर कोई उम्मीद धरें
दीन-ईमान को छोड़कर
जिसके विचार—
हर पल···हर घड़ी···
रुपए-पैसों के इर्द-गिर्द
और आत्मा—
ऐसे-वैसों के आगे-पीछे नाचती है ।

□
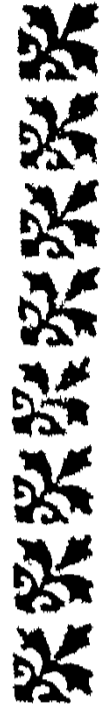
आदमी : एक (अ)मूल्यांकन

माना कि
मनु की सन्तान
यानी विकास का गजब पुतला
यह इन्सान
जानवरों के नजरिए से
बहुत बड़ी हस्ती है,
लेकिन यारो !
जमाने की नज़र
और कीमतों की डगर में
यह नाचीज या चीज
(कुछ भी कह लो)
आज सबसे अधिक सस्ती है।

□

बोगेनविलिया

जाना-पहचाना नाम है बोगेनविलिया
वैसे अलग-अलग भाषाओं में
'बागान विलास', 'ग्लोरी ऑफ द गार्डन' सरीखे
कई पर्याय हैं इसके ।

देखा होगा लगभग सभी ने
इस सुपरिचित झाड़-बेलि को
जो रंग-बिरंगी है
साज सजीली है
लेकिन कटीली भी
और
अपने मुड़े पैने कंटकों के ऊपर
ओढ़े रहती है
गुलाबी-लाल रंग की फरफराती ओढ़नी ।

सरसराती हुई आगे बढ़ती है यह
दीवारों-वृक्षों की टेक लेकर
और शान से ऊंचा सिर उठाने
तथा ऊपर दूर चढ़ने के
आरोही अंग हैं इसके
यही छोटे वक्र कांटे ।

लेकिन रंगीले सजीले अंग
पुष्प सदृश जो दीखते है
फूल वास्तव में हैं नहीं
बस भूल-भुलावे छल-छलावे
और औरों का लुभाने के लिए
नकली मुखौटे मात्र हैं।

लोक सिद्धि के कुशल व्यवहार में
युगानुरूप अनुकूलन की आपाधापी में
सहपत्र कहलाने वाले
सामान्य हरित पात ही
सफाई और खूबसूरती से
वेश अपना बदले हुए हैं
कक्ष से जिनके
छोटे असुन्दर फूल
मुखड़ा उठाए या छिपाए
भीतर ही बन्द रहते हैं।

लतर की ये पत्तियां —
हरी से रंगीन बनकर
धर्म का धानी रंग त्याग कर
'प्रकाश-संश्लेषण' की प्रक्रिया से
भोजन बनाने का सामान्य कर्म छोड़ कर
प्रखर आकर्षण के लिए
अपना लेती हैं करीने से
भोग-विलास के भ्रामक रँग भड़कीले। □
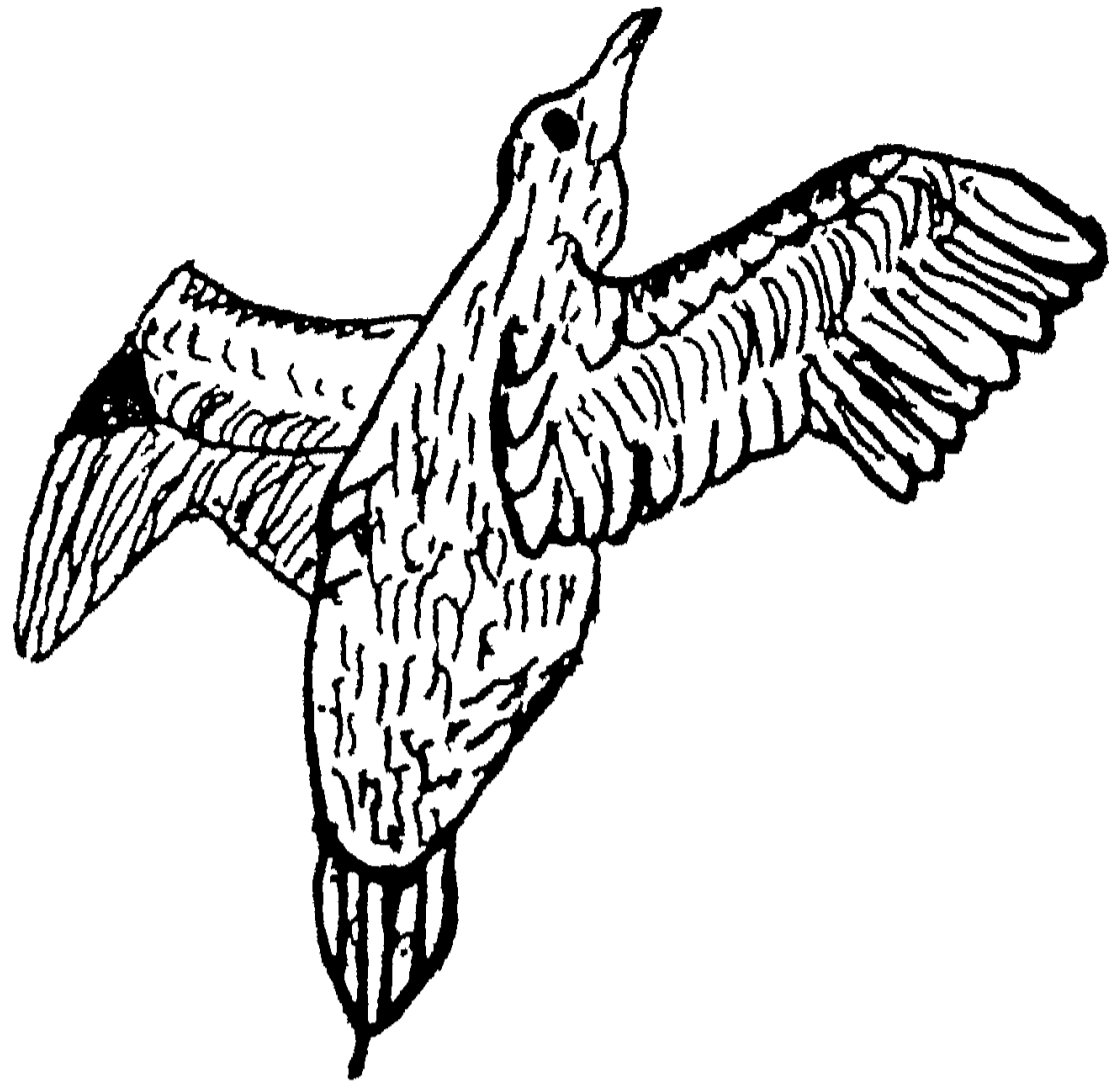
ग्रीष्म - अलबम

कोयल कूक भरती है
आम बौरा गया है
उष्ण विस्मृत मञ्जरियों ने
झिलमिलाते परकोटों से बहुरंग यौवन छलकाया है,
समय की कैसी एकचक्रिक क्रिया है
परिवेष की आंखों का पानी उड़ा नहीं
और हवा के लहू चढ़ गया है।

···रफ्ता···रफ्ता···
मौसमी वेष में लकदक गुलमोहर
अलसाई लाल दोपहर में पगलाता रहेगा
और लुके-छिपे बटोरी गई पीली दमक से
अन्धा होता अमलतास
सोने से फूला नहीं समायेगा।

□

क्षितिज - दो पहलू

क्रिया :

ओ क्षितिज !
तुम कितने मर्यान्ति हो
तुम्हारे जप-तप से ही
चल रही है यह सृष्टि
सात्विक सन्तुलन निभ रहा है,
तुम न होते तो—
—सच
मिल जाते धरती और आकाश
मच जाती
प्रलय की हाहाकार।

प्रतिक्रिया :

ओ क्षितिज !
तुम विरोधी हो
निष्ठुर खलनायक हो
रोडा बनकर बीच में
न दिया मिलने तुमने
दो मचलते प्रेमियों को
न दिया आने
दोनों को आस-पास
खुद करते रहे अट्टहास
और आजीवन छटपटाते रहे
छटपटाते रहेंगे
धरती और आकाश।

□

सूत्र

चमचागीरी में बहुत बड़ी शक्ति है
सफल व्यक्ति की
आज यही ठोस अभिव्यक्ति है।

□

अनुभव

हे तात !
जीवन में अब यही बात
रिश्ते कहने को
और दुखड़े सहने को हैं।

□

आयोजन

आज हड़ताल
कल बन्द
परसों दगा-फसाद
और नरसों—
हुल्लड़ का कुछ-न-कुछ प्रबन्ध।

□

गतिविधियां

कोरी बातें हमारी—
रङ्गभूमि की प्रयोजनता से
कोसों दूर
क़ागज़ के घरों में खेली गईं
शतरंज की चालें।

□

उपलब्धि

पुराने छोटे बीज से फूटे
स्वार्थ के नन्हें अखुवे को

आज हमने—

विज्ञान-युग के आधुनिक मलों व उर्वरकों की
खाद-खुराक देकर

और

जटिल रसों व अरसों से सींचकर
थोड़े ही समय में
कितना विराट बरगद बना दिया है।

कितनी भारी प्रगति है !
कितनी बड़ी उपलब्धि है !!

साधने और पोषने वाली
भूमिगत जड़ ही नहीं
तनों से तनकर निकली हुई
हवा में उन्मत्त झूलती हुई
अनगिनत अस्थानिक वायवीय जड़ें भी
वातास से पोषण लीलती हैं
और गुरुत्वीय प्रभाव से मचलते हुए
धरती की गोद छीलती हैं।

चारों ओर भूमि में पसरकर और गहरे पैठकर
शोषण के पोषण से स्थूल होकर
भ्रान्त करती है कि
थी कौन-सी मौलिक और कौन-सी हैं द्वितीयक ?

बरगद की काली छांह में
कोई बिरवा, कोई पौधा
महकना तो दूर पनपता भी नहीं—
कुछ के पाद गलते हैं
कुछ के पात झरते हैं
और कुछ के गात जलते हैं—
यानी कि ये इकाइयां

बौनापन, ढीलापन और पीलापन लिये
धूप देखने को तरसती हैं
और काकारोल करती चिड़ियों की बीट से
अनुकूलित होते हुए
सांस गिन-गिनकर जिन्दगी का मोह सहती हैं।

□

केशिका*

हाड़-मांस के पुतलों में
दिन-रात···हर घड़ी···हर पल
निरन्तर अविराम
जीवन की अबाध लय में
विराटरूप शिराएँ, धमनियां
महाशिराएँ और महाधमनियां
आपाद मस्तक
रुधिर और लसीका का,
यानी प्राण-तरल, सँजीवनी-रस का सँचार करती हैं
और हमारी इस कँचन-काया को
जीवन पर्यन्त
जीवन्त बनाये रखती हैं।

---

*धमनी और शिरा को जोड़ने वाली खून की महीन नली।

इनका बहना
या शोणित का इनमें बहना ही
जिन्दगी का गहना है
यानी एक लम्बी उम्र की कुलबुलाती आशा,
इन पर तनिक खोट
सँगीत लहरों से विरक्ति शोक बन जाता है
और अतिरँजना नहीं तनिक भी
सचमुच इन्हीं से सार्थक है
वेद-उपनिषदों के ब्रह्म शब्द
'चरैवेति' की परिभाषा।

किन्तु—ये सुदीर्घ सँवहनकारी नलिकाएँ
समर्थ नहीं हैं उतनी
जितनी हैं इनकी शाखाएँ-उपशाखाएँ
यानी रक्त-केशिकाएँ-केश सदृश सूक्ष्म नलिकाएँ,
विशुद्ध लहू की ये बड़ी धमनियां, धमनिकाएँ
विभाजित होते-होते
परिवर्तित हो जाती हैं
इन्हीं नन्ही महीन वाहिकाओं में
सौंप देती हैं इन्हीं को
अपनी सारी जिम्मेदारी
अपना सब कुछ
पोषण पदार्थ और प्राणवायु ऑक्सीजन।

ये परिव्याप्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म
कलकल प्रशाँत नलिकायें
बिखरी-छितरी रहती हैं मायाजाल-सी
सभी कोशिकाओं, कोशिकांगों
अँगों, ऊतकों और अँगकों में
और ये ही बनाती हैं
चेतन मानव को
देह से विदेह।

इनसे ही साकार
जीवन की उत्तमाशा का क्रम
इनसे ही सम्पर्क पोर-पोर का
एक ओर से दूसरे छोर तक
प्रत्यक्ष सम्बन्ध असँख्य कोशिकाओं का
इन्हीं से परासरणी आदान-प्रदान विविध रस्मों का
इन्ही से मिल-जुड़कर बनती
लघु शिरिकायें, बृहत् शिरायें
अशुद्ध रक्त का वहन कर
कर देतीं जो पूर्ण रूप से शुद्ध उसे
मलवायु कार्बन डाइऑक्साइड का उत्सर्जन कर।

केशिकाओं का महाजाल यही
सँगम स्थल है
छोटी और बड़ी इकाई का
होम होती हुई
मैली-धोली समिधा का,
अँग-प्रत्यँगों के कण-कण की भूख-प्यास
क्षण-क्षण इनसे ही मिटती-बुझती है,

यहीं पर और यहीं से होता है
भोजन-मल का निर्मल विनिमय
श्वसन, वृद्धि, अवशोषण, परिवहन
स्वांगीकरण, गुणन, उत्सर्जन और परिवर्धन
सभी जैविक क्रियाकलापों का सतत व्यापार प्रसार
शाश्वत जीवन की
तालग तक परिघटनाओं का नरन्तर्य
सब कुछ इन्हीं का उत्प्रे ण-प्रक्रम है
इन्हीं का दा यतापूर्ण मर्यादित चमत्कार।

महाकाय की एकैक इकाई
इन्हीं से कूजित और पोषित है
तभी तो –
नेह-नीर भरी
सेवी हर उष्ण केशिका
देह की
हर रस-भरी कोशिका से पूजित है
और सहज रूप से गुपचुप दोहित भी।

□

विकसित असंस्कृति

यूं कहने को
कुछ-न-कुछ सुघड़ता सभी चीज़ों में होती है
लेकिन कुछ में नहीं भी होती न !
जैसे कि बोरे में ।

इसके स्वरूप को
सुन्दर तो शायद ही कोई कहे
जो ऊपर से नीचे
या नीचे से ऊपर एकसार
कहीं कोई बारीक़ी, आकर्षण
उभार या विभेदन नहीं
और जिसमें—
फूले रहने की आत्मकेन्द्री प्रवृत्ति के साथ-साथ
चारों कोनों में पसरकर
मनमाने ढंग से येन केन प्रकारेण
बस, अपनी भौतिक रिक्ति को बदलने
और स्वयं को भरने-पूरने की भूख होती है।

अफसोस कि,
बेजान बोरे तक ही यह चलन होता
तो कोई बात न थी
किन्तु ओ मनीषियो !
सचमुच तब क्या किया जाए ?
जब—
कुछ न कर सकने वालों को
आत्मबोध हो जाए
और आए दिन
यह अनुभव सालता रहे कि—
जिस धर्मी-कर्मी महानायक की
विकास-कथा को
वेद, पुराण, उपनिषदों
ऋषि-महर्षियों
और डारविन, लामार्क आदि विज्ञानियों ने
धर्म व विज्ञान की कसौटी पर आजमाया है
और जिसकी गौरव-गाथा को
शताब्दियों से
हमने आदर्श ग्रन्थों के पन्नों में रँगा पाया है,
उसी विकसित और सर्वोच्च प्राणी की नागरिकता
यानी पढ़े-लिखे, गुणे और बने-ठने
सुघड़-सभ्य-सम्पन्न मानव की संस्कृति
आत्मिक और मानवोचित मर्यादाओं के दुर्भिक्ष में
आज—
मात्र काला बोरा बनकर रह गई है ।

□
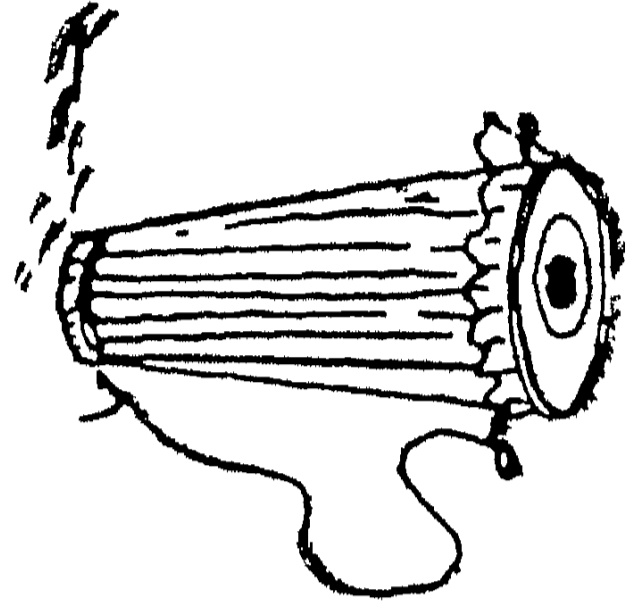
संकर पुजारी

सच, समय की या हमारी
यही सभ्यता और बलिहारी है—
स्वतन्त्र और परतन्त्र
व्यक्तिवादी और गुटवादी
लीकवादी और नक़लवादी
अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी
प्रकटवादी और पलायनवादी
कथनी और करनी के अन्तर वाली
दो विरोधी वृत्तियों के संकरण के उत्पाद
यानी दोहरे व्यक्तित्व वाले
दोगले जीव बन गये हैं हम।

कभी हम —
अनाचार, विषमताओं
और विडम्बनाओं से तिलमिलाकर
इन्क़िलाब करते हैं
इन्साफ की फरियाद करते हैं
और इन दिनों ईश्वर का नाम अधिक बांचते हैं,
लेकिन, अवसर की देहली लांघते ही
पिछला सब कुछ भुलाकर
निष्ठा और मर्यादा को ताक पर रखकर
उन्हीं बेमानी विलासों और स्वार्थी अकर्मों के
नए-नए तरीक़े ईजाद करते हैं,
और वही बातें दोहराते-तिहराते हैं
खिलाफ जिनके—
आवाज़ हमने कभी ऊँची उठाई थी
और कर्मवीरता का दावा भरते हुये
पाक दामन की दुहाई देकर
दीन और ईमान की शेखी डुगडुगाई थी।

□

त्रासदी

आज की स्वमोही
भटकी व खोई हुई
कर्मशून्य मिथक स्थिति में
मर्यादाओं की कीमत
और सँस्कारों की नीयत का
समेकित परिणाम
आंखों के सामने निर्लज्ज-सा
इस तरह पड़ा है कि—
निष्ठाओं का मुख मोड़ना
और आस्थाओं का दम तोड़ना
आम बात हो गई है
जो आम आदमी की निगाहों से उतरकर
उसके ज़ेहन में
दूर ऊपर तक चढ़ गई है।

|

अजब त्रासदी है आवले जमाने की
मनमानी सभ्यता के ठाठ
हाय-हाय की अनन्तता दोहराती काया के वेश
और लड़खड़ाती संस्कृति के परिवेश में
कुलीन व स्वतंत्र विचारों वाली
तीस वर्षीया सलोनी प्रबुद्ध युवती
इच्छाओं के विपरीत
बना दी गयी है वाग्दत्ता
काले घराने की।

□

शिशिर : एक (अ)गतिक्रम

काले बादल
यूं तो बहुत पहले से ही
मंडरा–मंडरा कर छा रहे थे
पर पिंगली परोपकारी
सुनहरी और ऊष्म संचारी
सात्विक धूप ढल जाने से
एक ओर से दूसरे छोर तक
स्वार्थी लोलुपता का घुप्प अँधेरा
और पोर-पोर तक
कंपकंपाती ठिठुरन का अनाचारी मौसम व्याप गया है
अस्थायी त्राण पाने के लिए
यांत्रिक गतिविधियां
संकुचित दायरों में सिमट जाती हैं,
कुंठाओं से लिपी-पुती अंगीठियों में
ईर्ष्या का ईंधन होम कर
निन्दा की सुखद आंच तापती हैं,
और पराए सुखों की आह में—
अंधेरे बन्द कमरों में पसरकर
बुराइयों की रजाइयां ओढ़ लेती हैं।

□
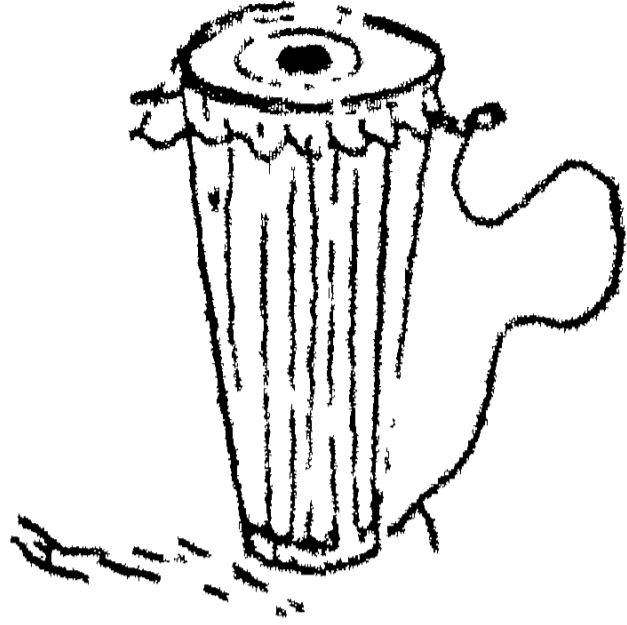
(परम णु विस्फोट पर्व पर)

परमाणु परीक्षित

ओ भारत के विज्ञानियो !
तुम्हें कोटि कोटि बधाइयाँ
निछावर तुम पर
करोड़ों बजती शहनाइयां।
वायु-जल के दूषणकारी विकिरण से मुक्त
उल्लासमयी परमाणु जय से युक्त
अपने नाभिक य अंत स्फोट से
भले ही पहुंचती हो गैरों को चोट रे !
लेकिन नाभि में सुलगती स्पर्धा को तो
शांति और शीतल शांति ही मिली है
और यह हमसे पूछो
कितने युगों की क्लांति मिटी है।

बड़ी पाँच शक्तियों की पाँत
और परमाणुधर्मी राष्ट्रों की जात में हम
कौशल की अणुभेरी बजाकर ही
शामिल हो पाए हैं
अपने ही बल बूते पर
अपनी जगह बना पाए हैं,
गीता और रामायण के देश के
सुशांति गायक हम
भौतिकी और रसायन के वेश में भी
सक्षमता प्राप्त कर
परमाणु–महासभा के नायक बन गए हैं
और दुनिया के सामने अब
हमारी ग्रीवाएं हिमालय हो गयी हैं,
अपने पर हमें कितना नाज है कि
हमारी यह शुभ शकुन लब्धि
आज इतनी बड़ी उपलब्धि हो गई है।

□

बांधव

रिश्ते—
एक पेड़ की टहनियों
और
भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों पर
हवा के जोर से
अलग-थलग बजते हुए पत्ते।

□

प
रा
व
र्त
न

कहते हैं
जैसा होता है भोजन
वैसा ही हो जाता है मन
और
जैसा स्थान होता है
वैसे ही विचार उपजते हैं ।

आधुनिक विज्ञानीय अनुसंधान के बूते पर
धान्यों की उन्नत बौनी सकर किस्में उगाली हैं
हमने
जो चमत्कारी व प्रतिरोधी बनकर
उत्पादन बेतहाशा उगल रही हैं,
...अब इन्हीं बौनी किस्मों के उपभोक्ता बनकर
परावर्तित हो रहे हैं हम ।

□

योगदान

भौतिकविज्ञानियों का कथन है—
"देखते नहीं होते हैं जब हम
नारंगी, नारंगी नहीं होती,"

इसीलिए कहता हूं—
रूपसी ! इतराओ नहीं
तुम्हारी तथाकथित सुन्दरता और रूप-राशि
कुछ नहीं—

हमारी तांत्रिकाओं व ज्ञानेन्द्रियों की
प्रतिवर्ती क्रिया के माध्यम से
केवल हमारा ही योगदान है।

□

विरोधी लक्षणों का सहअस्तित्व
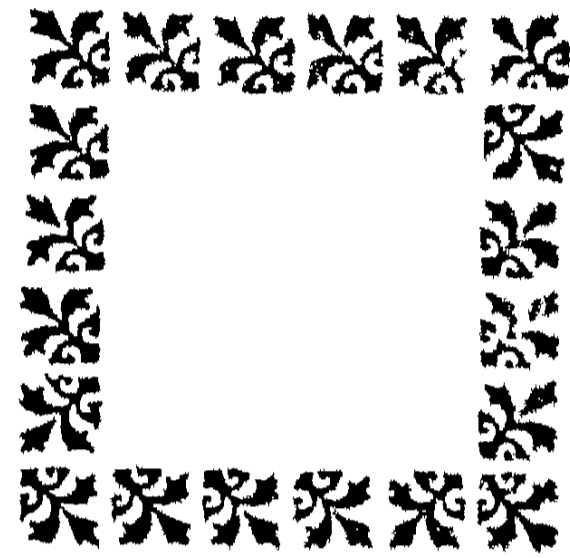
इच्छाएं :

आँखों के सामने
जल्दी-जल्दी बढ़ने
और लम्बोतरे होने वाले
यूकेलिप्टस के तने।

और

नियति :

दृष्टि से ओझल
कहीं से कहीं नहीं
वहीं से वहीं
गड़ी और मुड़ी-तुड़ी
अदृश्य स्थैतिक जड़ें।

□

पुराने सन्दर्भ

दोस्त!
मैंने तुम्हें दोस्त समझा
और हमेशा समझे रहा
वैसे समझा तुमने भी था
लेकिन तुम फिर फिर गए।

वह तुम्हारे कच्चेपन के आवेगों का उफान था
या कि तुम्हारे किशोर का शोर
अथवा वय:संधि का ज्वार
जो सब औचक शान्त हो गया।

माना कि समाज में
आचार-संहिता की रस्में
कानूनी होती हैं
लेकिन दोस्त ! यह भी याद रख लेते कि
रूमानी प्रणय-संहिता की कसमें
कभी बेमानी नहीं होतीं।
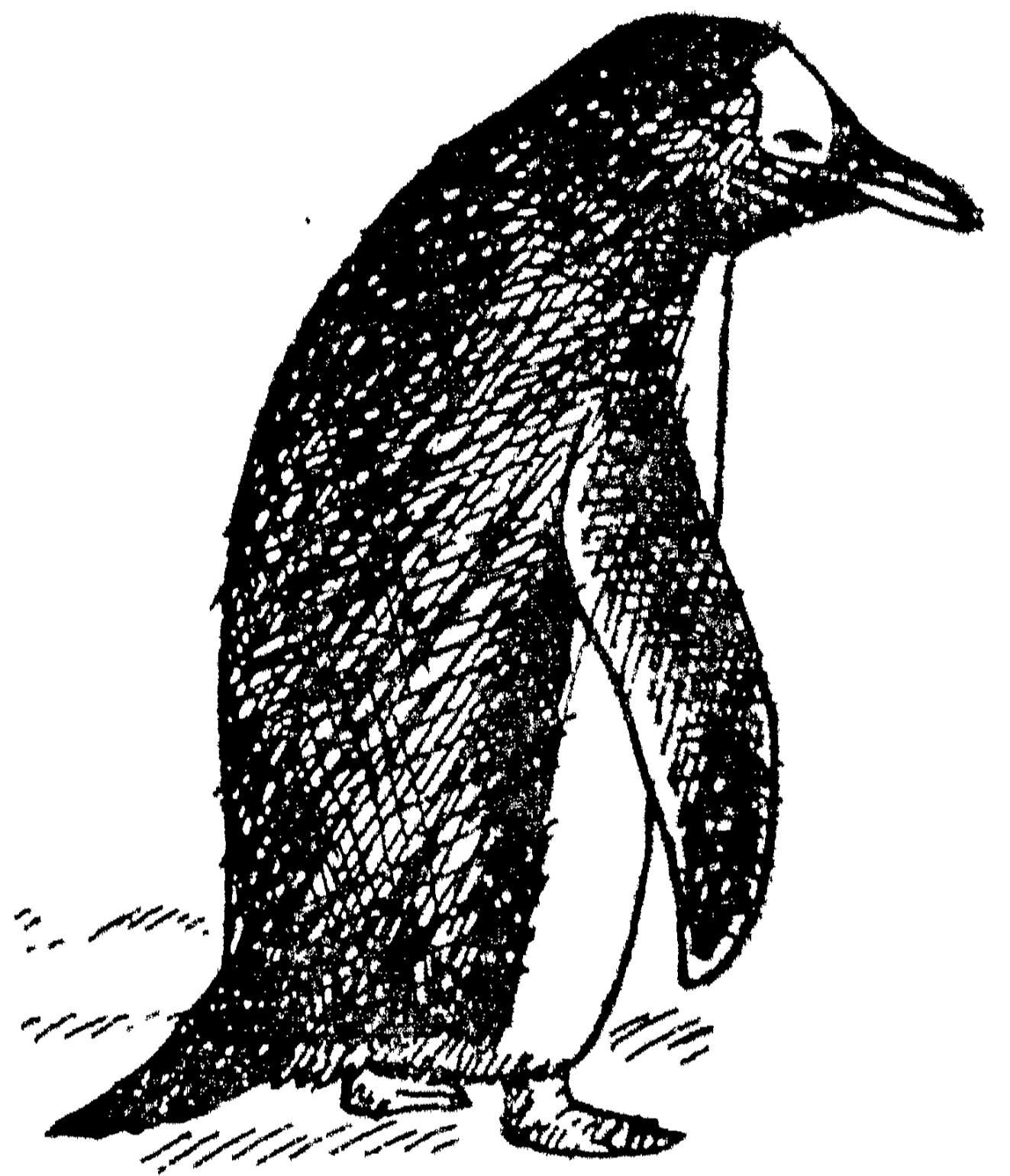
तुम कितने खुशनसीब हो
कितने सफल रहे हो
एक ही जिन्दगी में
जिन्दगियाँ कितनी जी ली हैं तुमने,

और एक हम हैं
जो कविता में भी
न मर सकें एक मौत।

□

अमरबेल दीर्घा

अमरबेल, आकाशबेल, डॉडर या कम्कुटा
कुछ भी कह लो

सामान्य और वैज्ञानिक भाषाओं में इसके कई नाम हैं
लेकिन काम एक ही है।

बिना जड़ों के गहरी जड़ी हुई
और मटक-लटक कर
पीले उलझे तार-जाल सी
जबरदस्ती गले पड़ी हुई
अमरबेल सभी ने देखी होगी,
लेकिन
शोषित-ग्रसित वनस्पतियों के भोगे यथार्थ का क्रंदन
नहीं सुना होगा किसी ने
हो सकता है माली ने भी नहीं।

यह हरीतिमाहीन पर्णविहीन लतर
देखते ही देखते
छा जाती है आकुल उद्भिदों पर
और खेल खेल में
खा जाती है सब कुछ हंस-हंस कर।

मोटे, बड़े व ऊँचे उठे हुए
नामी-गिरामी नीम, शीशम, यूकेलिप्टस,
अमलतास, गुलमोहर, पीपल, बरगद
देवदार सरीखे महावृक्षों को
कतई यह छूती नहीं
लेकिन भोले भाले निर्बल शाकों
क्षुपों, झाड़ों, बाड़ों को छोड़ती नहीं
और बलात् लिपट-चिपट कर वेध डालती है।

वैसे बाग-बगीचों
और घर-आंगन के पौधों, गुल्मों वगैरह पर
जो जुल्म यह ढाती है
उन्हें यह भी बखूबी जानती है।

बतलाते हैं हमारे जीवविज्ञानी
अपनी परजीवी माया
और बेबस पोषी की काया से
लीलती जाती है यह सारा जीवन-रस,
बाहर से अदृश्य
किन्तु सूक्ष्मदर्शी से दृश्य
चूषी संरचनाओं से,
लेकिन उपजती-पनपती है कैसे ?
कौन अप्रकट सूक्ष्म बीज-बीजाणु हैं इसके सूत्रधार?
या टपकती है क्या सीधे आसमान से ?
क्या माध्यम हैं इसके प्रसार और उद्भव के?

क्यों परजंवितां की यह परिघटना घटती नहीं
सीना ताने गुरु तरुओं के तनों पर ?

और आम असहाय पौधों पर ही
क्यों यह घातक जाल बुना जाता है ?
ढेर सारी ये बातें
बतलाएगा कौन हमें ?
इस गुत्थी का उत्तर और इससे राहत के प्रयास
हैं हमारे किस परिस्थितिविज्ञानी के पास ?

□

रबर की गेंद और हम

अजीवित वस्तुओं का आस्तित्व ?

चाहते हुए भी —
मति की सार्थकता नहीं
स्वयं की गति से सचलन नहीं
और बस —
परवशता की शबलता के ही करतब ।

बेजान रबर की गेंद को
कहीं भी ऊपर उछालो
पिचका-दबाकर कहीं भी फेंक दो
लुढ़कती-उछलती ठोकरें खाती फिरेगी,
समय की चाल पर
बाहरी शक्ति की ताल पर
परिस्थिति प्रताड़ित
सहमी-सी
टप्पे खाती रहेगी
और धरती के गुरुत्व से खिचते हुए
धीरे-धीरे बलशून्य होकर
निश्चेष्ट हो चलेगी ।

सहसा......
अपने पर ही दृष्टि सरक जाती है—
चमत्कारी वैज्ञानिक प्रगति के
इस अंतरिक्ष-विजय के युग में भी
गेंद-जैसे
कैसे अजीव सजीव हैं हम भी
जीव तो है हममें
पर जीवन नहीं।

□

ग्रहजयी मानव
बनाम
एक निराशावादी प्रतिक्रिया

ओ त्रिमानव ! यानी विज्ञान-मानव ! विश्व मानव
तुम्हारी प्रज्ञा, प्रगति और पराक्रम के प्रति
अपने दाँतों तले अगुली दबाकर
तुम्हारे पांवों तले माथा नवाता हूं,
अपनी सिद्धि, बुद्धि व विद्या के
छल, बल और कल पर तुमने
बांध डाला है विज्ञान का सफल विश्वास ;

सच, तुमने-हमने कितनी प्रगति कर ली है –
उस पुराने युग से लेकर,
जब कि हम
घास-फूस और माटी-गारे से
बांधते थे अपना सकल आवास,

आज तलक—
जब कि हम
अपने प्रक्षेप-यानों से
अवान्तर ग्रहों-उपग्रहों पर
बाँधते हैं योजनों आकाश;

क्या विडम्बना है—
उधर तुम नए ग्रहों तक उड़ रहे हो
चाँद, मंगल और शुक्र पर
चंदोवा तानने
जाजम बिछाने
तथा अनन्त अंतरिक्ष का अंत कर
भौतिकवादी मानवता के लक्षातिलक्ष्य वेधने को
भरसक बढ़ते चल रहे हो
और इधर हम हैं
जिन्होंने अपने दिलों में
बस बाँधे हुए है
रूढ़ियां, कुण्ठाएं और संत्रास;
ओ चन्द्रजयी, ग्रहजयी और अंतरिक्षभेदी मानव !
तुम लेकिन हियजयी,
कुलजीवी और पृथ्वीजीवी नहीं रहे
सन्तुलन डगमगा कर
सब कुछ गड्ड-मड्ड कर
मस्तिष्क से जितने आगे निकल गए हो
आत्मा को उतने ही पीछे छोड़ गए हो,
...लेकिन नहीं नहीं ..
तात ! क्षमा करना
मैं तनिक बहक गया था
तुम गृह ग्रह की संपृक्तताओं से प्रभावित न होना
यहाँ के आदमियों की वृथा आदिम प्रथाओं को
यहीं के लिए छोड़ जाना
सच, तभी तो बाँध और लाँघ पाओगे
यहाँ-वहाँ नए वातायन, नए उल्लास;

हाँ, तो सुनो—
माना कि परमाणयुगीन बमवर्षण के समान्तर
चिकित्सीय पराकाष्ठा वाले अंगरोपण के
जीवनदायी शल्य कौशल से
कुछ दिनों के लिए
बाँध भी लोगे अस्थायी साँस
लेकिन शंका है मुझे—
भले ही मुझे परम्परावादी,
लीकवादी या कुछ भी कहकर पुकार लो तुम !
तुम्हारा विज्ञान-कौशल कितने ही चरमोत्कर्ष पर
क्यों न पहुंच जाए
तुम्हारे अमर कम्प्यूटर और रोबोट
तुम्हारी हू-ब-हू जीवन्त ऐक्टिंग क्यों न कर लें,
पर ओ मनुज !
इस तरह नहीं बाँध पाओगे कभी भी
एक दूजे का सहज विश्वास
और
विधना का दिया
प्राकृतिक यह श्वास-प्रश्वास ।

□

कोणार्क : मूर्त और अमूर्त

उत्कल भूमि का अनोखा मूर्ति निलय
कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर
बेजान पत्थरों पर उकेरा गया एक जीवन्त अध्याय।

कामकोणी सुडौल मूर्तियां,
बेडौल इच्छाएं सचमुच भरमा देती हैं
सम्पूर्ण क्रियातन्त्र और तन्त्रिकाओं में बहुतविध क्रीड़ा की
अनेक मूर्त और अमूर्त रश्मियाँ उपजा देती हैं।

सुगढ़ भोगापेक्षी एकल और मैथुनरत युगल
मूर्ति कौशल में बेमिसाल हैं,
जीवन के गूढ़ योग-भोग दर्शन से ओतप्रोत
अनगिनत काम-छायाओं की टकसाल हैं।

गरिमामण्डित काम सजी शैय्याओं पर नहीं
तपती कठोर काली शिलाओं पर
इतिहास की उजली परतों में अंकित होकर
विविध आयामों में मुखरित हो गया है,
निखिल विश्व की दैहिक कामनाओं का चिरंतन सत्य
रूपायित होकर
आगंतुकों, दर्शकों, पर्यटकों के लिए
हमेशा हमेशा के लिए पत्थरित हो गया है।

जीवनदाता सूर्य के गतिमान घोड़े
जीवन-यान के प्रतीक हैं,
सफेद प्रकाश में गड्डमड्ड सात रंग
रूपहीन अनंग के सर्वव्याप्त अंग हैं,
रथ के नेमियुक्त गोल पहिए
रति-गति के ऋतु-चक्र हैं,

सूर्य की चार स्फूर्त और श्लथ अवस्थाएं
दिवस-जीवन की काल-भंगिमाएं
यौवन ज्वार की परिवर्तनशील कलाएं हैं,
जो विलास में परिलिप्त करते हुए
रस-निष्पत्ति की परिभाषा कहती हैं।

कहते है कलिंग युद्ध में
लाखों वीर जब खेत रहे थे
धरती रक्त-रंजित बन गई थी
और शेष इकाइयाँ विरक्त हो चली थीं—
उनमें जिजीविषा और काम संजीवनी जगाने के लिए
विवेकी नरेश ने —
कुशल कलाकारों, संगतराशों, मूर्तिकारों को देकर प्रलोभ
रचना करायी थी इन मिथुन मूर्तियों की,
इसलिए कि जीवन और जनन प्रवहमान हो।
यौन ग्रंथियों से उबर कर
लोग मर्यादित काम को सहज धर्म मानें
और आसक्ति भोग से निवृत्त होकर
परम उदात्त भावना से
अन्ततः अनासक्ति योग में प्रवृत्त हों।

□

मनवासी बिम्ब

अंशुमान रवि से नहीं
साँचे में ढली जीवन्त पुतली से बिखरी
देह ऊर्मियों
और पुतलियों की पलक प्रत्यंचा से विसर्जित
नेह रश्मियों से बींधती
नयनाभिराम और द्युतिमान
सुरभिमय मुस्कानधारी एक छवि
आवक्ष रूप में
दीठि-देहरी की चौखट पर
जब-तब प्रकृतिस्थ हो जाती है।

छटपटाते बड़े आकार
बड़े अलबम
बड़ी इबारतें
कोरी बड़ी बातें
अथवा बेजान और बंजर सूनी-सी बड़ी जिन्दगी
अपरितोष देने के सिवा
और भी कुछ कर सकेगी क्या ?
गुदगुदाते कुछेक आखर
एकाध चित्र
एकाध भाव भंगिमा
या खट्टे-मीठे पूरे-अधूरे कुछ क्षण
हासिल नहीं अगर
उसके राह खर्च के लिए।

□

गांव की संध्या में बंधा दृश्य

श्वेताश्वेत की आलिंगन घड़ी में
राह की वात को पारभासी क्षुपमय बनाये
चिर चीन्हे गंतव्य पर
कुनमुन किरणपुंज छिटकाये
भ्याँ ऽ भ्याँ ऽ की क्षुधित ध्वनि की याद में
गूंगे सुमों के काँपते-भासते स्वरों से प्रकम्पित
सुगबुगाती कुलबुलाती पातें खड़खड़ाती हैं,
माटी की घाटियों को सुहाग देने की चाह में
उकसती-सुबकती ध्वनि को थपकने के चाव में
भारी फूलों से लदी-फदी श्लथ आकृतियाँ
डगमगाते मचलते चेतन स्तम्भों पर लड़खड़ाती हैं,

श्रमी-परिश्रमी बया
नन्हीं-चुन्नी गौरय्या
और कपोत आदि विहंग
मध्यलोक में स्थित अपने नीड़ में
ललक-ललक कर लिपटते लटक जाते हैं,
आह ! तब न पूछो—
उद्दीपन एड़ें मार देना है
आन्तर-प्रान्तर का विहंग-विहंग
कहीं बाहर उड़ान भरने को
आरम्भ कर देता है
पंख फड़फड़ाने।

□

दुबारा जनमते हुए

वो कितने ख़ुशनसीब होते हैं
जो अतीत और भविष्य से दूर होकर
बस वर्तमान के करीब जीते हैं।
आज का वह अतीत
कभी हम दोनों का वर्तमान था
और उस समय का आगामी भविष्य
आज का वर्तमान
मेरा-तुम्हारा वर्तमान है।

निरन्तर जीवन्त
हमारे वर्तमान की यह निकटता
अन्तर की एक ही करवट में
क्यों एक अनासक्त अन्तराल में पथरा गई है?
ये दो सापेक्ष कालक्रम…दो वर्तमान
दो जन्म हैं—

सामान्य जन्म के विपरीत—
अपरिवर्तनशील सगी-सी आत्मा वाले।

…काश, हो पाती यह काया
नए जन्म में लीन
पुनर्जन्म के परिणाम की तरह स्मृतिहीन।

[ ]

वर्षा-फल

पार के बेजान खण्डहरों पर
उन बड़े ठूंठों पर
बड़े-बड़े पत्थरों पर
और चिकनी खड़ी दीवारों पर

इस बरसते सरसते मौसम में
आँधियों के थपेड़े
और वर्षा की अनगिनत बौछारें पड़ी हैं,

उन पर और उनके चौगिर्द
ये चिकनी हरिताएं और फिसलने शैवाल तन्तु
मखमली गद्दी-सी बिछाकर
कैसी रुपहली खिलखिली फसलें उगाए हैं,

...पर मेरे मन के भीगते इन कगारों पर
आशा और विश्वास की
एक भी हरिता
क्यों फूट पाई नहीं है ?

□

परिणाम

जमाने का रुख देखकर
जाने-अनजाने
कोई कैसे न माने
कैसे न टूटे

जब—

मान के अरमान मर गये हों
और
देह में सन्देह घर कर गए हों।

□

प्रारब्ध

प्रारब्ध मेरा
दान मुझको
ऐसा दे गया है

मानो--
रात की रोटी की
आशा संजोए
अंधे भिखारी के फैले हाथ में

दाता—
खोटा सिक्का
धर गया हो।

□

जो ध्वनियाँ कैद हैं

हैरान हूं
हृदय के किसी कोने में सहेजकर रखे हुए
कुछ शब्द
प्यार के
हौले से मैंने जब
उछाले थे तुम तक
तो एक विराम के बाद
उन्हें निष्ठुरता से चौराहे पर फेंकने का औचित्य
क्यों लगा तुम्हें ?
हाँ, नाप-तोलकर रखे हुए कदम
और सहज भावुकता की रौ में पड़े डगमग डगों में
गति और तालमेल कहाँ रहता
···कुछ दूरी के बाद
सन्तुलन असंगति मे ही बदलता
क्यों कि जमाने से अपनाई गई तुम्हारी विचारधारा में
भौतिकता में निमग्न 'मॉड'
और भावनाओं में बहने वाला 'प्रिमिटिव' जो होता है।

कितना अच्छा होता अगर
दोस्ती के रिश्ते न सही
मात्र सौजन्य के नाते ही
उन शब्दों को वहीं दफनाकर
तुम एक अलग राह मुड़ जाते।
···लेकिन उनका क्या होगा
जो ध्वनियाँ दिलों में कैद हैं ?

□

कड़वा सच

जब--

अनैतिकता तथा अव्यवस्था के डैने
और
शोषण के पर
उग आते हैं

तब—

बौनों के दोने
और
हुल्लड़बाजों के कुल्हड़
निश्चय ही भर जाते हैं।

□

आंखों की नीयत

लिबास ढीले-ढाले
सादे फीके रंग वाले
छिपी बाहें
ढका बदन
और लुकी रानें
तस्वीरों, पिक्चरों या सच्चे नज़ारों में
सुहाती नहीं हैं
क्योंकि
गाहे-बगाहे
निगाहें हमारी
लिबास और तन-बदन से अधिक
नंगी और कमरकसी होकर
आदी हो गई हैं
कसा और नंगा देखने की ।

□

माया

माया के तीन नाम—
बैठा राम
आया राम
और
गया राम।

□

(अ) सम्बन्ध

रिश्तों के रस्तों में
पैसे अड़े
दिल छोटे
और स्वारथ बड़े।

□

एक प्रश्न ?

यह सभी कहेंगे
और मानेंगे
आदमी पहले ऐसा नहीं था
भले ही उसके पास पैसा
आज जैसा नहीं था,
आज भी--
उसी आदम के बेटों के बेटों की औलादें हैं
और उसी हव्वा की बेटियों की बेटियों की संतानें हैं
फिर बात ऐसी क्या हो गई ?
नीयत जमानें की
एकाएक बदल क्यों गई ?
कोई बताए तो—
क्यों वह पहले
आज जैसा नहीं था ?

□

देह का दिया बारो !

केवल ढोंग के लिए
आडम्बर-बवण्डर के लिए
बरस की खानापूरी के लिए
ये माटी के कोरे दिए
जलाते हो हर बरस तुम !

स्नेह वह जरा-सा दिखावे भर का
घड़ी भर में ही चुक चलेगा
कोरा भूखा दिया ही पी डालेगा जिसे ।

बोलो ! इस तरह कैसे लौ जलेगी ?
और तनिक देर टिमटिमा कर जली भी तो—
फिर उस अरुण, भोली, तिरती-फुदकती मुस्कराहट को
हाय ! लील लेगा
अमावस का हिंसक काला अंधेरा ।

सुनो ! यदि जलाने ही हैं तो
देह-माटी के दिए में
परस्पर नेह का तेल डालो
और एकता की एकल लड़ी में
आशा-प्यार और आह्लाद-विश्वास वाली
स्निग्ध श्वेत वर्तिका की अखण्ड ज्योत बालो !

तब जले जगमग दिया
पावन रश्मि दे उजला हिया
और प्रखर आलोक
शान्ति-कान्ति देना
अहिंसा की राह दिखलाता
विसरित होकर अनन्त अन्तरिक्ष तक छिटक जाए,
फिर—हर क्षण भाग्योदय मनै
हर रोज दीवाली लगे।

□

सागर माप : मछलियों के अन्तर की

जिधर पुतलियाँ थिरकती हैं,
सागर हहराता नजर आता है,
मछलियों के पंखों की उथल-पुथल वाली
तरंगायित ऊर्मियों से…
दूर तक सिहरनें बिफर जाती हैं।
कुलबुलाती नन्हीं मछलियों के अन्दर भी
कितना अथाह सागर है
किन्तु—
जिसके आकुल आकर्षण से आबद्ध होकर
डूबते-उतराते थाह और मोती पाने की
चाह में सारी तलहटी तक पैठने—
क्रियाशील और प्लवमान होने के लिए,
संपूरक सहाय के साथ—
संयोजी स्नेह रज्जुक की अनिवार्यता
एक पारिस्थितिक विवशता है।

□

मंगलमय हो हर वर्ष तुम्हें !

बजाता बधाई प्रमोद की
आए—नव वर्ष आए
छूकर उन्नत भाल लाल
सौभाग्य-भानु चमकाए
खिलें अहो ! सुभाव प्रसून
चिरहरित सुमन डाल भरें
तुम्हारी एकेक कामना को
नीलकण्ठ प्रभु पूरित करें,
मन-आँगन में तात ! तुम्हारे
आशा की अखण्ड ज्योत जले
मेरे देश के गेह-गलियारे
असीम सुख-वैभव पले ।

□

चाहत

कल रात
मैंने देखा—
गदगुदाता
एक सुखद सपना
काश,
तुम्हारा भी होता वो अपना।

□

पत्नी-उ-वाच

घर-परिवार की नैया को
डगमगा जाते हैं—
कभी पेशानी और तेवर तुम्हारे
तो कभी—.
देवरानी और देवर हमारे।

□

विनती

सुनते आए हैं—
भक्ति से अधिक ज्ञान पलता है
और अधिक ज्ञान से
प्रेम अधिक फलता है,
ज्ञान यदि नहीं जगा पाता है
अधिक प्रेम हम में
नहीं सच्चा ज्ञान वह
कोरी बुद्धिवादिता है,
भक्ति सच्ची न होगी अगर
याँत्रिक पूजा बनी रहकर
हमें कुछ भी न देगी
जीवन में हमारे नीरसता भरेगी।

इसलिए हे प्रभु !
करें जब हम ध्यान तुम्हारा
तुम हमारा ध्यान रखना
तुम तक पहुंचें
वह कृपालु शक्ति देना,
प्रेरणा से खोजें जब हम
परम सत्य को
आलोकित करते रहना
हमारे विस्तीर्ण पथ को,
और चित्त में जब हमारे
जागे अदम्य भाव तुम्हें पाने का
तब लक्ष्य तक पहुंचने की
हमें सफल सामर्थ्य देना। □